शेख अहमद सरहिंदी : भारत में अलगाववादी विचारधारा का जन्मदाता

डॉ शैलेन्द्र कुमार

भारत में अलगाववादी विचारधारा का चरमोत्कर्ष पाकिस्ता न के निर्माण के रूप में हमारे सामने आया। इस विषय पर प्रचुर मात्रा में साहित्य उपलब्ध है, जिसके एक प्रमुख हिस्से में यह अवधारणा व्याप्त है कि अंग्रेज-पूर्व भारत में हिंदू-मुसलमान आपस में मिल-जुलकर रह रहे थे और यह तो अंग्रेजों की 'बांटो और राज करो' की नीति थी, जिसके परिणामस्वरूप दोनों समुदाय एक-दूसरे से भिड़ गए और जिसकी परिणति पाकिस्तान के निर्माण में हुई। क्या यह अवधारणा सही है कि हमारी आपसी वैमनस्यता सिर्फ अंग्रेजों की ही देन थी ? क्योंकि मामला अगर इतना आसान होता, तो आज भारत और पाकिस्तान मित्र राष्ट्र होते। परंतु इसके विपरीत विगत सात दशकों में दोनों देशों के बीच चार युद्ध हो चुके हैं और अप्रत्यक्ष या छद्म युद्ध तो लगभग प्रतिदिन हो रहा है। इसी तरह हमारे देश के अंदर भी अंग्रेजों के चले जाने के बाद आपसी मेल-जोल बढ़ता और हम अंग्रेज-पूर्व युग में पहुंच जाते। परंतु यहां भी वैसा नहीं हुआ। हाल तक दोनों समुदायों के बीच भीषण दंगों का होना आम बात थी। अब भी देश के उन क्षेत्रों में जहां दोनों समुदाय अच्छी-खासी संख्या में रहते हैं बिना पर्याप्त पुलिस बंदोबस्त के कोई धार्मिक त्योहार सार्वजनिक रूप से नहीं मनाया जा सकता। इसके अतिरिक्त आमतौर पर मुस्लिम समाज अभी भी अलग-थलग ही रहता है।

इसलिए दोनों समुदायों के बीच की इस समस्या के लिए सिर्फ अंग्रेजों को ही जिम्मेदार ठहराना न केवल उचित नहीं लगता है, बल्कि यह एक अत्यंत गंभीर समस्या का सरलीकरण करने का प्रयास भी लगता है। अभिप्राय यह कि इस समस्या की जड़ें अवश्य अंग्रेज-पूर्व युग तक फैली हुई होंगी। इस प्रकार हम देखेंगे कि हमारे देश के जिस बौद्धिक वर्ग ने दोनों समुदायों के बीच के तथाकथित आपसी सामंजस्य और मेल-जोल को मध्यकालीन आदर्श बना कर पेश किया है, वह पूरा सच नहीं है। हां, यह जरूर है कि स्थिति सदा एक जैसी नहीं होती थी। कभी किसी अच्छे मुस्लिम सुल्तान के राज्य में अपेक्षाकृत शांति का माहौल बन जाता था और कभी इसके विपरीत बहुसंख्यक हिंदू न केवल उत्पीड़न के शिकार होते थे, बल्कि उनका धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से दोहन और शोषण भी होता था।

यदि हम इतिहास की गहराई में जाएंगे, तो हमें ज्ञात होगा कि हमारे देश में दंगे मध्यकाल में भी होते थे। दोनों समुदायों के बीच बहुत हद तक आपसी वैमनस्यता थी। दोनों समुदायों में सामाजिक स्तर पर मेल-जोल बहुत कम था। इस संबंध में मार्क गैबोरी ने अपने एक शोधपत्र में दिखाया है कि कैसे इन दोनों समुदायों के बीच की कटुता मध्यकाल में भी विद्यमान थी।

मार्क गैबोरी ने अपने शोधपत्र का आरंभ अल-बेरुनी के निम्नलिखित कथन से किया है। अल-बेरुनी उज़्बेकिस्तान का रहनेवाला था, परंतु महमूद गजनी के दरबार में रहता था। वह अपने समय का विद्वान था

और उसने एक मुस्लिम यात्री के रूप में विस्तार से संभवतः सबसे पहले 11वीं शताब्दी के भारतीय समाज का चित्रण किया है :

> "धर्म को लेकर हिंदू हमसे बिल्कुल भिन्न हैं। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसमें यदि हमारी आस्था है, तो उनकी भी हो और यदि उनकी है, तो हमारी भी हो। उनकी कट्टरता सभी विदेशियों के प्रति है, जिन्हें वे म्लेच्छ कहते हैं। म्लेच्छों को वे प्रदूषित मानते हैं और इसलिए वे इनके साथ किसी भी तरह का संबंध नहीं बनाते हैं, जैसे विवाह, साथ बैठना, साथ खाना-पीना आदि, क्योंकि उनका मानना है कि ऐसा करने से वे भी प्रदूषित हो जाएंगे। हिंदू न केवल हमसे भिन्न होने का दावा करते हैं, बल्कि यह भी मानते हैं कि वे हमसे श्रेष्ठ हैं। पर हम भी यही मानते हैं कि हम हिंदुओं से श्रेष्ठ हैं।"

प्रश्न उठता है ऐसी स्थिति बनी कैसे ? दरअसल ऐसी स्थिति उत्पन्न होने के अनेक कारण थे। भारत की संस्कृति अत्यंत प्राचीन थी, जिसका भान हिंदुओं को था। इसलिए वे इस्लाम की श्रेष्ठता स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकते थे। दूसरी ओर इस्लाम विजेताओं का मजहब था, जिसकी श्रेष्ठता के आगे किसी भी तरह विजित लोगों के धर्म को श्रेष्ठ मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। विजित लोगों का धर्म कनिष्ठ ही होगा मुस्लिम विजेता ऐसा मानकर चलते थे। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अल-बेरुनी जब उज़्बेकिस्तान से भारत आया तब तक उत्तर भारत में इस्लाम को प्रवेश किए लगभग तीन सौ साल बीत चुके थे। इतने समय में भारत के लोगों

ने विशेषकर उत्तर-पश्चिम के क्षेत्रों में देख लिया था कि उनका बलात धर्मांतरण किया जाता रहा। महमूद गजनी द्वारा बार-बार की गई लूट और मार-काट से भी वे भयभीत रहे होंगे। गजनी ने बहुत-सारे मंदिर तोड़े और अनेक बार तोड़े। इसलिए उनके मन-मस्तिष्क में इन विजेताओं की लूटेरों, आततायियों और मूर्तिभंजकों की ही छवि बनी होगी। ऐसे में स्वाभाविक था कि वे इन नए लोगों से दूर रहते। साथ ही उनका अनुभव बताता था मुसलमान विजेताओं से पहले जो भी विदेशी विजेता, जैसे हूण, कुषाण आदि, आए थे वे कालांतर में भारतीय समाज में रच-बस गए थे। उन्होंने यहीं का धर्म और यहीं की संस्कृति अपना ली थी। परंतु मुस्लिम विजेता अपने पूर्ववर्तियों से बिल्कुल भिन्न थे और अपना मजहब तथा संस्कृति यहां के व्यापक हिंदू समाज पर थोपना चाहते थे।

अल-बेरुनी के कथन से भी स्पष्ट होता है कि मुस्लिम समाज स्वयं को हिंदुओं से इतना भिन्न और अपने मजहब को इतना श्रेष्ठ मानता था कि वह प्रयास करके हिंदुओं से सामाजिक सम्पर्क बढ़ाना नहीं चाहता था। जबकि यदि पहल उसकी ओर से होनी चाहिए थी क्योंकि हिंदू समाज की शंकाओं के निराकरण का इससे अच्छा दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता था। और अगर ऐसा हुआ होता, तो संभव था कि स्थिति में बदलाव आता।

मार्क गैबोरी ने अल-बेरुनी के बाद जिन्ना का निम्नलिखित वक्तव्य भी उद्धृत किया है :

> “हिंदूओं और मुस्लिमों के धार्मिक दर्शन, रीति-रिवाज और साहित्य भिन्न-भिन्न हैं। वे आपस में विवाह नहीं करते, न ही साथ में खाते हैं। इन दोनों की सभ्यताएं अलग-अलग हैं, जो विरोधी विचारों और धारणाओं पर आधारित हैं।”

यदि ध्यान से देखा जाए तो अल-बेरुनी और जिन्ना के कथनों के बीच की समानता आश्चर्यचकित करने वाली है। जबकि अल-बेरुनी और जिन्ना में नौ शताब्दियों का अंतर है, फिर भी विचारों में इतनी समानता, अद्भुत है ! आज के विद्वजन जिन्ना के वक्तव्य को हवा-हवाई करार दे सकते हैं क्योंकि यदि जिन्ना ऐसा नहीं कहते, तो उनका द्विराष्ट्र सिद्धांत अस्तित्व में ही नहीं आता। इसमें बहुत हद तक सच्चाई भी है। फिर भी देश के एक तरह से सबसे बड़े मुस्लिम नेता का ऐसा वक्तव्य हो, जो अल-बेरुनी के वक्तव्य से मेल खाता हो, तो उससे इतना तो संकेत मिलता ही है कि मुस्लिम समाज के एक वर्ग में ऐसी धारणा प्रचलित रही होगी। जिन्ना के अतिरिक्त मुहम्मद इकबाल की भी ऐसी ही सोच हमें ऐसा मानने को विवश करती है कि बहुत कुछ बदल जाने पर भी नौ सौ साल में बहुत कुछ नहीं भी बदला।

इसलिए अब हमें इस न बदलने वाली सोच पर विचार करना होगा। मार्क गैबोरी कहते हैं कि दिल्ली सल्तनत के समय से ही हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दंगों का लंबा इतिहास है। तत्कालीन घटनाओं के विश्लेषण से मार्क गैबोरी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दंगे किन-किन कारणों से हो सकते हैं, दंगे कितने प्रकार के हो सकते हैं और दंगों के दौरान दंगाइयों की कैसी भूमिका होगी यह सब कुछ पहले से

सुनियोजित होता था। सन 1713 में गुजरात के अहमदाबाद शहर में हुए एक भीषण दंगे के विषय में मार्क गैबोरी का कहना है कि हिंदू-मुस्लिम दंगे का सबसे पुराना पर सबसे विस्तृत ब्यौरा हमें इसी दंगे का मिलता है।

इस दंगे की कहानी इस प्रकार है। एक हिंदू परिवार अपने घर के आगे होलिका दहन करना चाहता था। इसके लिए उसने एक मुस्लिम अधिकारी से अनुमति भी ले ली। लेकिन इस हिंदू व्यक्ति के घर के सामने ही एक मुस्लिम रहता था, जिसे होलिका दहन नामंजूर था। फिर भी होलि का दहन संपन्न हुआ। इस घटना के अगले ही दिन उस मुस्लिम व्यक्ति ने अपने घर के आगे पैगंबर के सम्मान में एक गाय की हत्या की। इसके बाद दोनों समुदायों के बीच दंगा भड़क गया। दंगा इतना भीषण था कि तीन दिनों तक चला और बाजार-दुकान तथा अन्य कारोबार सब कुछ ठप रहा। इसमें बड़ी संख्या में लोग मारे गए और उस शहर के बड़े लोगों ने अंत में निर्णय लिया कि शांति बहाल करने के लिए बादशाह से अपील की जाए। इस प्रकार गो-हत्या दंगे का एक प्रधान कारण होती थी। साथ ही हिंदुओं के कई ऐसे त्योहार थे जिनमें गाजे-बाजे का प्रयोग होता था, जिसे मुस्लिम पसंद नहीं करते थे।

इसी तरह हम देखेंगे कि मध्यकालीन भक्ति साहित्य हमें पर्याप्त जानकारी देता है कि किस प्रकार इन दोनों समुदायों में वैमनस्यता थी, जिससे मार-काट की स्थिति भी बनती रहती थी। यह अकारण नहीं है कि भक्त कवि सदा इस बात पर बल देते रहे कि आपस में भाईचारा

कायम हो। नानक तो जीवनपर्यन्त इसी प्रयास में लगे रहे कि किस तरह इन दोनों समुदायों को करीब लाया जाए। ऐसा ही प्रयास दादू, कबीर और बाद में बुल्लेशाह ने भी किया। यदि सब कुछ ठीक होता, तो इन भक्त कवियों को इस विषय पर इतनी ऊर्जा खर्च करने की जरूरत नहीं पड़ती। किस कद्र हिंदू-मुसलमान आपस में लड़ते थे इस बारे में कबीर तो बड़ी बेबाकी से कहते हैं —

> "हिंदू कहत है, राम हमारा, मुसलमान रहमाना, आपस में दोउ लड़े मरत हैं, भेद न कोई जाना।"

इतनी ही बेबाकी से बुल्लेशाह कहते हैं —

> "होर न सबमें गल्लड़िया अल्ला अल्ला दी गोल, कुझ रौल पाया आलमां कुझ कागजां पाया भल्ल।"

[इसका अभिप्राय है कि संप्रदायों के बीच होनेवाली 'कलह' का मुख्य कारण या तो पंडित लोग हैं या उनकी पोथियां]

यहां ध्यातव्य है कि कबीर का जीवन मुख्यतः पन्द्रहवीं शताब्दी में बीता जब दिल्ली सल्तनत की स्थापना के दो सौ साल ही हुए थे। बुल्लेशाह निस्सन्देह बहुत बाद में यानी सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में हुए। कबीर उन आरंभिक लोगों में हैं जिनसे हमें स्पष्ट रूप से कम-से-कम दोनों समुदायों के बीच के झगड़ों-लफड़ों के बारे में पन्द्रहवीं शताब्दी से पता चलता है। उसके बाद का हाल हमें बुल्लेशाह बताते हैं और उसके भी बाद का हाल हमें मार्क गैबोरी से पता चल चुका है।

कबीर से चार सौ साल पहले अल-बेरुनी से हमें इतना तो पता चल ही चुका है कि दोनों समुदायों में सामाजिक स्तर पर कोई आदान-प्रदान नहीं होता था और यह भी कि कैसे दोनों समुदाय एक-दूसरे से दूर रहने को लेकर अडिग थे।

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण हमें यह मानने में सहायता करता है कि दोनों समुदायों के बीच मध्यकाल में न केवल सब कुछ ठीक नहीं था, बल्कि खटपट या कलह विद्यमान रही। पर कलह की जानकारी मिल जाने के बाद हमें एक और भी जटिल प्रश्न से उलझना पड़ता है कि दोनों समुदायों को अलग करने में किन व्यक्तियों या संस्थाओं की भूमिका रही होगी ? उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि इस बारे में सबसे बड़ा और सबसे पहला नाम, जिसने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच के अलगाव को सांस्थानिक स्वरूप दिया, शेख अहमद सरहिंदी का है। शेख अहमद को सम्मान देकर मुजद्दिद अल्फ सानी भी कहा गया है। 'मुजद्दिद' का शाब्दिक अर्थ होता है - उद्धारक। आज भी शेख अहमद को इस्लाम का उद्धारक माना जाता है। शेख अहमद के विषय में पाकिस्तान के लेखक मुहम्मद फरमान, दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर ने विस्तार से लिखा है।

शेख अहमद का जन्म सन 1563 ई में सरहिंद (पंजाब) में हुआ और उसकी मृत्यु सन 1624 में हुई। शेख अहमद का पूरा जीवन अकबर और जहांगीर के शासनकाल में बीता। उसके पिता शेख अब्द अल-अहद मखदूम ने कई स्थानों का भ्रमण करके पर्याप्त इस्लामी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया। कालांतर में वह सरहिंद वापस आकर

दर्शन और धर्म संबंधी विषयों की शिक्षा देने लगा। उसे न्यायशास्त्र पर भी अधिकार प्राप्त था।अपने पिता की ओर से शेख अहमद उमर खलीफा का वंशज था। आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह सियालकोट (शाकल) गया जहां उसने कमाल कश्मीरी से शिक्षा ग्रहण की। हदीस की शिक्षा उसने याकूब कश्मीरी से ग्रहण की। शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वह आगरा भी गया। अंततः वह सरहिंद लौट आया और वहीं कादरिया और चिश्तिया संप्रदायों से जुड़ गया।

फरमान के अनुसार, उस समय यह बहुत आवश्यक हो गया था कि ऐसा कोई साहसी व्यक्ति प्रगट हो, जो बादशाह के समक्ष नतमस्तक होकर उसकी पूजा करने से मना कर दे। इस प्रकार वह इस्लाम के सही स्वरूप को पुनर्जीवित करे और पाखंड या मतांतर को मिटा दे। शेख अहमद ने बखूबी इस काम को अंजाम दिया। उसने बड़ी निर्भीकता से बादशाह को क्रोधित करने का साहस दिखाया और इस प्रकार अपनी आस्था व सिद्धांतों को त्यागने के बजाय जेल जाना पसंद किया। वह चट्टान की भांति अपने स्थान पर अड़ा रहा और उसने मुगल पाखंड का विरोध किया जिसका आरंभ जहांगीर के पिता अकबर ने किया था। उसे 'मुजद्दिद' इसलिए कहा गया क्योंकि उसने इस्लाम के शुद्धिकरण का आंदोलन चलाया और पारंपरिक मजहबी व्यवहारों को पुनर्स्थापित किया। माना जाता है कि उसकी साहसिक दृष्टि के परिणामस्वरूप ही भारत में इस्लाम-विरोधी आचरण के विरुद्ध मजहबी पुनर्जागरण का जन्म हुआ।

फरमान कहते हैं कि सन 1618 से सन 1622 के बीच का काल शेख अहमद के जीवन के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। इस दौरान एक वर्ष तो उसे ग्वालियर की जेल में बिताना पड़ा और तीन वर्ष एक बंदी के रूप में। शेख अहमद की बढ़ती लोकप्रियता के कारण उसके प्रतिद्वंद्वियों ने ईर्ष्यावश जहांगीर के कान भर दिए। जहांगीर को बताया गया कि शेख अहमद बादशाह और शासन के लिए खतरनाक है। बात तब और बिगड़ गई जब शेख अहमद ने बादशाह के आगे अपना सिर झुकाने से मना कर दिया। उसकी दृष्टि में ऐसा करना इस्लाम के विरुद्ध था। मृत्यु से दो वर्ष पूर्व ही अर्थात सन 1622 में उसे कैद से रिहा किया गया।

फरमान के अनुसार, अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शेख अहमद ने जो तरीके अपनाए वे भी कम साहसिक नहीं थे। उसने अपने शिष्यों के समूहों को प्रशिक्षित किया और उन्हें सभी मुस्लिम देशों के साथ-साथ भारत के भी सभी शहरों में भेजा ताकि वे इस्लाम की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करें। विशेष रूप से उसका आग्रह होता था कि उसके शिष्य लोगों को 'सुन्नत' (सुन्नाह) के महत्व से अवगत कराएं और उन्हें किसी भी तरह के पाखंड या मतांतर से लड़ने के लिए तैयार कराएं। इसके अतिरिक्त लोगों को इस्लामी नियमों का पालन करना भी सिखाएं। उसने अपने समय के महान व्यक्तियों को जो पत्र लिखे उनका भी अच्छा-खासा प्रचार हुआ। उसने सुन्नाह का सख्ती से पालन करने पर बल दिया और साथ ही पाखंड/मतांतर को जड़ से मिटाने पर

भी। उससे अनेक दरबारी प्रभावित हुए, जिनके माध्यम से शेख अहमद ने बादशाह और उसके दरबार की दृष्टि को बदलने का प्रयास किया।

यहां यह जानना उपयुक्त होगा कि सुन्नाह से हमारा अभिप्राय क्या है। शरीयत अरबी शब्द है, जिसे शरिया कानून और इस्लामी कानून भी कहा जाता है। इस कानून की परिभाषा दो स्त्रोतों से होती है — इस्लाम का धर्मग्रंथ 'कुरान' और इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद द्वारा दी गई मिसालें, जिन्हें 'सुन्नाह' कहा जाता है। इसलिए कुल मिलाकर सुन्नाह का अर्थ हुआ ऐसा इस्लामी कानून जो पैगंबर द्वारा दिए गए उदाहरणों के आलोक में की जानेवाली व्याख्या की व्यवस्था है। परंतु पैगंबर द्वारा दिए गए उदाहरण बहुत बाद में संकलित किए गए और चूंकि पैगंबर के आसपास के लोग जैसा सुन और समझ पाए थे उसे ही पीढ़ियों कंठस्थ करके कालांतर में लिखित रूप दिया गया। इसीलिए बहुत ऐसे मुस्लिम जानकार हैं जो सिर्फ कुरान को महत्व देते हैं दूसरे ग्रंथों को नहीं।

शेख अहमद ने पैगंबर द्वारा बताए गए धार्मिक व्यवहारों का सख्ती से पालन किया और वह ऐसे लोगों को माफ नहीं करता था जो किसी भी बहाने उन व्यवहारों का उल्लंघन करते थे। उसके द्वारा किए गए सुधारों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है : 1. मुस्लिमों को सुन्नाह का पालन करने और पाखंड/मतांतर छोड़ने के लिए कहना, 2. इस्लामी सूफीमत का शुद्धिकरण ताकि इसके विचारों और व्यवहारों पर जो गैर-इस्लामी प्रभाव पड़ा है उसे दूर करना और 3. इस्लामी कानून पर अत्यधिक जोर देना।

प्रश्न उठता है कि सरहिंदी की दृष्टि में पाखंड/मतांतर क्या है ? वैसे पाखंड/मतांतर के बारे में विद्वानों का मत है कि स्थापित धार्मिक विश्वासों या नियमों से हट कर यदि कोई और विश्वास या सिद्धांत अपनाया जाए तो उसे पाखंड/मतांतर कहा जाएगा। यहां ध्यातव्य है कि आमतौर पर नियमों में बंधे धर्म, जैसे इस्लाम या ईसाइयत में ही यह प्रश्न प्रासंगिक माना जाता है। हिंदू जैसे धर्मों में चूंकि नियमों की ऐसी कोई पाबंदी नहीं है, इसलिए मूल विश्वास या सिद्धांत से हट कर भी कोई और विश्वास या सिद्धांत अपनाया जाए तो उसे पाखंड/मतांतर की श्रेणी में नहीं रखा जा सकेगा। परंतु देखा जाए तो ईसाइयत में कैथोलिक से अलग जितने सिद्धांत या नियम बनाए गए हैं वे सब भी पाखंड/मतांतर की श्रेणी में आ सकते हैं। फिर भी चूंकि ईसाइयत में सुधार आंदोलन चला, इसलिए अब प्रोटेस्टैंट आदि उसी तरह मान्य हैं जैसे कि कथोलिक।

लेकिन अन्य धर्मों के विपरीत इस्लाम में मूल नियमों से होने वाले थोड़े से अलगाव या भटकाव को भी पाखंड/मतांतर कहा गया। वैसे कुछ मुस्लिम विद्वानों की दृष्टि में, जिसे हम पाखंड/मतांतर कहते हैं, उसे नवीनता या नवोन्मेष कहा जा सकता है। यहां तक कि उदार उलमा ने पाखंड या मतांतर के दो प्रकार बताए हैं — अच्छा मतांतर और बुरा मतांतर। लेकिन शेख अहमद की दृष्टि में किसी भी प्रकार के मतांतर में न सौंदर्य है, न उससे कोई लाभ है और न ही उससे कोई प्रकाश ही मिल सकता है। शेख अहमद ने अपने पत्रों के माध्यम से अपने दूतों को बताया कि हर प्रकार का मतांतर निंदनीय है, कलंक है। पैगंबर का

उदाहरण देकर वह मतांतर को खारिज करता है। वह मतांतर को धूल, गंदगी, घुप्प अंधेरा मानता है और कहता है कि यह गुमराह करने वाला है। उसका कहना है कि मतांतर को वही महत्व देते हैं जो नासमझ हैं और जिनमें दूरदृष्टि का अभाव है। शेख अहमद पैगंबर के हवाले से कहता है कि मतांतर लोगों को गुमराह तो करता ही है, साथ ही सुन्नाह को भी जड़ से उखाड़ता है। जब मतांतर मजहब में प्रवेश कर जाता है तब यह मुसलमानों को पारंपरिक इस्लामी व्यवहारों से वंचित करता है। शेख के अनुसार, इस्लाम अपने आप में परिपूर्ण है और मतांतर एक बेकार का पुच्छला है, जिसे इसके साथ जोड़ दिया गया है।

शेख अहमद यहीं पर नहीं रुकता। वह आगे बढ़कर कहता है कि यदि कोई मतांतर उचित भी लगे, तब भी, 'यह इस्लाम के चेहरे पर एक धब्बा है।' मतांतर को स्वीकार करने का अर्थ होगा इस्लाम को अपूर्ण मानना। इससे कालांतर में सुन्नाह समाप्त हो जाएगा और मतांतर की उन्नति होगी। मतांतर को माननेवाले को सम्मानित करने का अर्थ होगा इस्लाम को चोट पहुंचाना। मतांतर मजहब के लिए कुल्हाड़ी के समान है, जबकि सुन्नाह ध्रुव तारे के समान है, जो दिशा दिखाने का काम करता है। इस्लाम को मजबूत करने के लिए यह आवश्यक है कि मतांतर को जड़ से समाप्त किया जाए। इसलिए शेख अहमद उलमा से कहता है कि किसी भी प्रकार का मतांतर अच्छा नहीं है।

शेख अहमद का मानना है कि यदि समकालीन सूफी अच्छे हैं तो उन्हें अपने गुरुओं की जगह सुन्नाह को मानना चाहिए। उन्हें मतांतर को कदापि इस आधार पर भी नहीं मानना चाहिए कि शेखों ने वैसा करने

को कहा है। यदि कोई मतांतर प्रेरणा बनकर सामने आता है, तो लोग उसे खोए हुए सत्य की तरह अविलंब अपना लेते हैं। शेख अहमद का मानना था कि सूफियों के द्वारा किए गए विमर्श और उनके द्वारा की गई व्याख्याओं के कारण स्वयं सूफी शरिया से दूर जाने लगे और सूफीमत के इतिहास में एक समय ऐसा भी आया जब सूफियों ने घोषणा करनी आरंभ कर दी कि शरिया और सूफीमत एक दूसरे से बिल्कुल अलग दो ध्रुवों की तरह हैं। इस प्रकार शरिया को जो सम्मान मिलना चाहिए वह सूफियों ने नहीं दिया। सूफी इसे औपचारिक और प्रभावहीन मानने लगे। इसके परिणामस्वरूप मजहब और उसके मूल्यों की बड़ी क्षति हुई, हालांकि शेख अहमद के विचार में बहुत थोड़े लोगों को ही इस क्षति का आभास था।

शेख अहमद की सोच कितनी कट्टर थी इसका उदाहरण उसका यह वक्तव्य है : “जो शेख [सूफी] श्रद्धाहीनता की प्रशंसा करते हैं और लोगों को ब्राह्मणों का जनेऊ धारण करने के लिए उकसाते हैं उन्हें मौत के घाट उतार देना चाहिए क्योंकि वे अपने होश में न होने के कारण ही ऐसा करते हैं।” शेख अहमद के मुताबिक, किसी ने जब ख्वाजा नक्शबंद से सूफी संस्था को परिभाषित करने को कहा, तो नक्शबंद ने उत्तर दिया कि, “अंततोगत्वा सूफीवाद का उद्देश्य तब पूर्ण होता है जब तर्कसंगत ज्ञान ‘प्रकाट्य' या प्रेरित में और अमूर्त मूर्त में परिणत हो जाता है। इस प्रकार नक्शबंद ने यह नहीं सुझाया कि हमें प्रकट सिद्धांत के अतिरिक्त भी कुछ चाहिए। इसलिए जितनी भी अनावश्यक चीजें एक सूफी इस्तेमाल में लाता है वे सब अपना महत्व

सूफी द्वारा सिद्धि प्राप्त करते ही खो देती हैं क्योंकि ये रास्ते की चीजें हैं और गंतव्य प्राप्त होते ही ये अर्थहीन हो जाती हैं।

शेख अहमद के अनुसार, उलमा का एक मात्र कर्तव्य फतवे जारी करना है। आंतरिक शुद्धिकरण के प्रयास का प्रयोजन दैवी सिद्धांतों के पालन करने योग्य बनाने मात्र से है। यदि कोई केवल आंतरिक शुद्धिकरण में ही लगा रहता है और दैवी सिद्धांतों की उपेक्षा करता है तो वह विधर्मी है। सुन्नाह की पुनर्स्थापना और अनिवार्य रूप से नमाज पढ़ना ही सबसे अच्छी पूजा है जिसका प्रतिफल स्वर्ग में मिलेगा। नक्शबंदी भक्त सहस्यवादी प्रकटीकरण को पसंद नहीं करते क्योंकि यह इस्लामी सिद्धांतों से मेल नहीं खाता है और सूफियों के बीच होने वाली खटपट को निंदनीय मानते हैं। वे नृत्य और संगीत भी पसंद नहीं करते। जोर-जोर से अल्लाह का नाम लेना भी उन्हें नापसंद है।

फरमान के अनुसार, इस्लाम और सूफीमत के बीच की दरार को समझने के लिए हमें सर्वेश्वरवाद के दार्शनिक पहलू पर विचार करना होगा। सर्वेश्वरवाद को इस्लाम की असली विपत्ति या व्यथा की तरह माना जाता है। शेख अहमद सर्वेश्वरवाद की भ्रांति को जानता था और वह उन लोगों में था जिन्होंने इसकी जोरदार भर्त्सना की। लंबे चिंतन के बाद शेख अहमद इस नतीजे पर आया कि ईश्वर ईश्वर है और ब्रह्मांड ब्रह्मांड है। ब्रह्मांड अपने रचयिता की विशेषताओं या गुणों का प्रतिबिंब मात्र है। लेकिन ब्रह्मांड किसी भी तरह रचयिता की विशेषताओं या गुणों का हिस्सा नहीं है।

सर्वेश्वरवाद बिल्कुल अपरिहार्य नहीं है। पैगंबरों ने कभी भी सर्वेश्वरवाद का उपदेश नहीं दिया। इसलिए केवल कुरान और सुन्नाह पर ही विश्वास करना चाहिए। उलमा का काम मात्र इतना है कि वे इन मौलिक स्त्रोतों का विश्लेषण करें और इनमें कुछ भी अपनी ओर से न जोड़ें। सूफियों का रहस्यवाद, उनका प्रकटीकरण और उनके प्रेरणा स्त्रोत वहीं तक स्वीकार्य हैं जहां तक ये कुरान और सुन्नाह — मौलिक स्त्रोतों से मेल खाते हों। यदि नहीं तो इन्हें बहिष्कृत करना चाहिए।

पैगंबर की परंपरा या सुन्नाह के समक्ष आत्मसमर्पण ही असली आनंद है और इसका विरोध तमाम आपदाओं का कारण। हिंदू साधू या संन्यासी अत्यंत कठिन तप या हठधर्मिता तो अपनाते हैं, परंतु यह सब निरर्थक हो जाता है क्योंकि यह इस्लामी सिद्धांतों के अनुरूप नहीं होता। बहुत से बहुत ये साधू-संन्यासी कुछ आर्थिक लाभ कमाने में सफल हो जाते हैं, जबकि इस्लामी सिद्धांत के अनुयायी हीरों का व्यापार करते हैं जिसमें श्रम कम पर लाभ अधिक होता है।

फरमान के अनुसार, जिस आंदोलन का शेख अहमद ने सूत्रपात किया वह आज भी उसके अनुयायियों द्वारा सारे विश्व के अनेक हिस्सों में जारी है। कहते हैं कि उसकी इस महान विरासत के बिना इस्लाम के मजहबी विचारों का आधुनिक पुनर्निर्माण संभव नहीं है। उसकी पुस्तकें उसके विचारों का मूल्यवान दस्तावेज हैं। परंतु उसका श्रेष्ठ उसके पत्रों में है जिसकी कुल संख्या 535 है।

फरमान के बाद अब देखते हैं कि सरकारी एनसीइआरटी की पुस्तक - मध्यकालीन भारत (पृष्ठ 310) में शेख अहमद के विषय में क्या कहा गया है :

> "मुगल काल के मुसलमान रूढ़िवादियों और पुनरुत्थानवादियों में सबसे प्रमुख हस्ती का नाम था शेख अहमद सरहिंदी । अकबर के काल में दाखिल किए गए सूफियों के रूढ़िवादी नक्शबंदी सिलसिले के अनुयायी शेख अहमद ने तौहीद या ईश्वर की एकता की अवधारणा का विरोध किया और उसे इस्लाम के खिलाफ बताकर उसकी तीव्र आलोचना की। उसने उन धार्मिक आचरणों और विश्वासों का भी विरोध किया जो हिंदू धर्म के प्रभाव की देन थे — जैसे धार्मिक मजमों में संगीत (सभा) का प्रयोग करने, ध्यान करने, पीरों के मजारों पर जाने आदि। [इसलिए उसने] राज्य के इस्लामी स्वरूप पर जोर देने के लिए मांग की कि जजिया फिर से लगाया जाए, हिंदुओं के साथ सख्ती का बर्ताव किया जाए और मुसलमान उनसे कम से कम संपर्क रखें। इस कार्यक्रम को लागू करने के लिए उसने केंद्र स्थापित किए और सम्राट तथा बहुत-से सरदारों को पत्र लिख कर अपने पक्ष में लाने की कोशिश की।"

उपरोक्त वर्णन से एक बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि शेख अहमद हिंदू-मुस्लिम एकता का घोर विरोधी था। उसने जीवनपर्यन्त वे सारे उपक्रम किए ताकि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की दूरी बनी रहे।

अर्थात दोनों समुदायों के मध्य संस्कृतियों और परंपराओं का आदान-प्रदान न हो। इसीलिए शेख अहमद इस्लाम पर पड़ने वाले किसी भी प्रकार के हिंदू प्रभाव को स्वीकार करने तो तैयार नहीं था। सूफीमत हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के मिलन का सर्वोत्तम उदाहरण है। सूफी बहुत कुछ वैसा करते हैं, जो हिंदू धर्म में भी किया जाता है। अपने गुरुओं को पूजना, संगीत, नृत्य, गायन-वादन, भजन-कीर्तन, स्मरण, माला जपना आदि सूफी भी करते हैं। सूफीमत कई बार अपनी ओर से भी कुरान की व्याख्या करता है और इसमें कोई दो राय नहीं कि उसकी यह व्याख्या आमतौर पर उदार होती है।

ये सूफी ही हैं जो स्थानीय रीति-रिवाज से अपना संबंध बनाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वे उस स्थान के अतीत से भी स्वयं को जोड़ते हैं। भारतीय संस्कृति में पशु-पक्षी, वृक्ष, पहाड़, झरना, नदी, समुद्र आदि को ईश्वर का ही रूप माना जाता है और तदनुसार उनकी पूजा होती है। सूफियों द्वारा भी वृक्ष सम्मानित होते हैं। अधिकतर मजार किसी न किसी वृक्ष के नीचे होते हैं। इसी तरह अंधविश्वासों और ऐसी मान्यताओं को भी सूफी महत्व देते हैं जो तर्क से भले सही न ठहरते हों, पर इतिहास से उनका संबंध अवश्य स्थापित होता है। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि कट्टर इस्लाम या मूल इस्लाम स्थानीय अतीत से नहीं जुड़ता। इस संदर्भ में नोबेल पुरस्कार सम्मानित भारतीय मूल के लेखक, वी एस नायपॉल की पुस्तक 'बियोंड बिलीफ' (आस्था से परे) (1998, पृष्ठ 70) के एक लघु अंश को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा। नायपॉल लिखते हैं :

> “इस्लामी कट्टरवाद की क्रूरता यह है कि वह केवल अरब लोगों — पैगंबर के प्रथम अनुयायी — को अपने अतीत और अपने पवित्र स्थानों, जैसे तीर्थ और वहां की धरती के सम्मान पर अधिकार की अनुमति देती है। सारे विश्व के सभी धर्मांतरित मुसलमान इन पवित्र स्थानों को अरब लोगों के समान ही पवित्र मानने को बाध्य हैं। इसके परिणामस्वरूप धर्मांतरित मुसलमानों को अपने अतीत से संबंध तोड़ देना होता है। धर्मांतरित मुसलमा नों को सिवाय इसके कि वे इस्लाम के आगे अपने आपको पूरी तरह समर्पित कर दें और कुछ भी नहीं करना है। यह अपनी तरह का सर्वाधिक हठधर्मिता वाला उपनिवेशवाद है।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि शेख अहमद कितना कट्टर और धर्मांध था ! फिर भी आश्चर्य और दुर्भाग्य की बात यह है कि उसे बौद्धिकों ने ‘उद्धारक’ की उपाधि से सम्मानित किया। अब हम देखते हैं कि शेख अहमद के विषय में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर क्या कहते हैं। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में दिनकर लिखते हैं (पृष्ठ 286-287):

> “वह केवल कट्टर मुसलमान ही नहीं, प्रत्युत, इस्लामेतर धर्मों का प्रचंड विरो धी भी था। इस्लाम को सभी धर्मों, सभी संस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त रखना चाहता था। वह इस्लाम के उस प्राचीन, आरंभिक रूप का कायल था जब मुस्लिम-समाज में तसव्वुफ (सूफी) का प्रचार नहीं हुआ था, न

मुस्लिम संस्कृति पर किसी अन्य संस्कृति का प्रभाव ही पड़ा था। उन्नीसवीं सदी में वहाबियों ने इस्लाम के जिस प्राचीन रूप को वापस लाने की कोशिश की तथा बीसवीं सदी में उसके जिस रूप का आख्यान हाली और इकबाल ने किया, शेख सरहिंदी इस्लाम के उसी रूप का उपासक था।"

दिनकर आगे लिखते हैं :

"लगभग चार सौ वर्षों के सम्मिलित जीवन में मुसलमानों ने हिंदुओं से जो भी आदतें सीखी थीं, सरहिंदी उन सबको गुनाह समझता था। विवाह, श्राद्ध, पर्व, त्योहार और दैनिक रहन-सहन में हिंदुओं के बहुत-से रीति-रिवाज समान हो गए थे। गो-हत्या से घृणा उन दिनों मुसलमानों को भी होने लगी थी और विधवा-विवाह को मुसलमान भी हीन कर्म मानने लगे थे। सरहिंदी ने इन सारी बातों को दुष्कर्म बताया और मुसलमानों से उसने कहा कि हिंदुओं की संगति में तुमने जो कुछ भी सीखा है, उसे छोड़ दो, क्योंकि ये बातें असली इस्लाम के खिलाफ हैं। उसका उपदेश था कि भारत के मुसलमानों को ठीक उसी प्रकार से रहना चाहिए, जैसे मुहम्मद पैगंबर के समय अरब में मुसलमान रहा करते थे और उन्हें सतर्क रहना चाहिए कि हिंदुस्तान में बसनेवाले बहुसंख्यक गैर-मुस्लिमों की आदतें उनके भीतर न समा जाएं। हिंदुओं से शेख अहमद को भयानक विद्वेष था। वह उन्हें काफिर समझता था और उसका विश्वास था कि

काफिरों के दलन और अपमान से बढ़कर भगवान को पसन्न करने का और कोई उपाय नहीं है।

हिंदू-मुस्लिम एकता के विरुद्ध अपना जहरीला प्रचार शेख अहमद ने अकबर के ही राज्य-काल में आरंभ कर दिया था। किंतु, अकबर का रोब-दाब सारे देश में था, अतएव, शेख अहमद का प्रचार उस समय जोर नहीं पकड़ सका। लेकिन अकबर के मरने के बाद शेख अहमद ने निर्भय होकर मुसलमानों के भीतर आग भड़काना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि जहांगीर ने उसे पकड़वाकर जेल में डाल दिया। मगर, जहांगी र ढीला-ढाला बादशाह था। प्रभावशाली मुसलमानों के बीच-बचाव करने से उसे दया आ गई और शेख अहमद को उसने कैद से रिहा कर दिया। लेकिन, शेख अहमद को हिंदू-मुस्लिम एकता पर दया नहीं आई। जेल से रिहा होते ही उसने अपना प्रचार फिर से आरंभ कर दिया और जहांगीर के राज्य-काल भर वह अपने मतों को बेरोक-टोक फैलता रहा।”

पर आखिर प्रश्न यह उठता है कि क्या शेख अहमद का इतना प्रभाव था कि वह बड़ी संख्या में विशेषकर बौद्धिक मुसलमानों को प्रभावित करके वह सब करवाता, जो वह चाहता था। दुर्भाग्य से इसका उत्तर ‘हां’ में है। शेख अहमद कितना प्रभावशाली था इसका एक उदाहरण तो हमें दिनकर ही देते हैं। दिनकर लिखते हैं :

> “शेख अहमद के मरने के बाद उसके मतों के प्रचार का बीड़ा अहमद के पुत्र, मुहम्मद मासूम ने उठाया। और जब मासूम का देहान्त हुआ, तब उसके बेटे शेख सैफुद्दीन ने वही प्रचार और भी भीषणता से आरंभ कर दिया। हिंदुस्तान की बद-किस्मती से, इसी शेख सैफुद्दीन को औरंगजेब ने अपना गुरु बनाया और, इस प्रकार, शेख अहमद की रूह को वह बलवान मनुष्य प्राप्त हो गया जो अहमद के सपनों को कार्य का रूप दे सकता था।”

हमें शेख अहमद के विचारों और औरंगजेब द्वारा अपनायी गई कट्टर इस्लामी नीति में अद्भुत साम्य दिखता है। शेख सैफुद्दीन ने वही सब औरंगजेब से कराया, जो अकबर के शासनकाल में संभव नहीं हो पाया था। दिनकर ने शेख अहमद की समाज में प्रतिष्ठा और महत्व पर भी टिप्पणी की है। उनके अनुसार, “शेख अहमद की समाज में बहुत अधिक प्रतिष्ठा रही होगी और उसके खानदान के लोग मुसलमानों के बीच बहुत आदर से देखे जाते होंगे। अन्यथा यह कैसे संभव था कि देश का बादशाह औरंगजेब अहमद के पोते को अपना गुरु मान ले।”

औरंगजेब के शासन काल तक तो हमें शेख अहमद के महत्व का पता चल गया। अब देखते हैं कि आगे यह महत्व बढ़ा या घटा। इस संदर्भ में दारुल उलूम देवबंद का उल्लेख प्रासंगिक है क्योंकि यह संस्था भारत में ही नहीं, बल्कि पूरी इस्लामी दुनिया में अच्छा-खासा महत्व रखती है। देवबंद के बारे में इंटरनेट पर निम्नलिखित जानकारी उपलब्ध है :

> “इमाम मोहम्मद कासिम नानौतवी (जन्म: 1832, देहावसान: 1880), उत्तर भारत के उत्तर प्रदेश राज्य के जिला सहारनपुर के देवबंद नगर में स्थित विश्व प्रसिद्ध इस्लामी शिक्षण संस्था दारुल उलूम देवबंद के संस्थापक हैं। इन्हें इमाम शाह वलिउल्ला ह देहलवी की शास्त्रीय इस्लामी परम्परा का अन्तिम वाहक माना जाता है, तथा भारत में इस्लामी परम्पराओं के उत्थान के लिए किए गए कार्यों के लिए वे भारत में मुजद्दिद अल्फ सानी अर्थात शेख अहमद सरहिंदी (सोलहवीं सदी) तथा शाह वलिउल्लाह देहलवी (अठारहवीं सदी) के बाद तीसरे इस्लामी उद्धारक (मुजद्दिद) के रूप में जाने जाते हैं। इस्लामी बौद्धिक तथा धर्म शास्त्रीय विरासत की पूर्ण रक्षा के लिए इमाम नानौतवी ने हाजी आबिद हुसैन के साथ मिल कर देवबंद में मई 1867 में मदरसा अरबी इस्लामी देवबंद की नींव रखी। बाद में यह मदरसा विश्ववि ख्यात इस्लामी विश्वविद्यालय के रूप में दारुल उलूम देवबंद के नाम से जाना गया।”

यहां ध्यातव्य है कि शेख अहमद को पहला इस्लामी उद्धारक कहा गया है और देवबंद के संस्थापक इमाम नानौतवी को इस बात पर गर्व है कि वह तीसरे इस्लामी उद्धारक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी यानी औरंगजेब के शासनकाल तक शेख अहमद और उसके उत्तराधिकारी महत्वपूर्ण बने

रहे और उन्नीसवीं शताब्दी में देवबंद के संस्थापक उसे पहला इस्लामी उद्धारक मानकर सम्मानित करते हैं।

अब हम इस बात पर विचार करना चाहेंगे कि देवबंद जो शेख अहमद को अपना आदर्श मानता है वह व्यापक मुस्लिम समाज को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है ? इस संदर्भ में मोहम्मद अयूब बताते हैं कि आरंभ में देवबंद उपनिवेशवाद-विरोधी प्रगतिशील आंदोलन का गढ़ था। इसने कांग्रेस से दशकों पूर्व संपूर्ण स्वतंत्रता के लिए आवाज उठाई। 1920 के दशक में देवबंद के प्रमुख सदस्यों - मौलाना महमूद-उल-हसन और मौलाना हुसैन अहमद मदनी को उनके अंग्रेज-विरोधी सख्त रवैए के कारण माल्टा में कैद में डाल दिया गया। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि देवबंद मिश्रित राष्ट्रवाद का समर्थक रहा है। मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने इस बात का उल्लेख किया है कि मुसलमानों द्वारा दूसरे धर्मावलंबियों के साथ राष्ट्र को साझा करना इस्लामी शिक्षा के बिल्कुल अनुरूप है। यदि कुछ भटके हुए लोगों को छोड़ दिया जाए तो सारे प्रमुख देवबंदियों ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग का न केवल विरोध किया था, बल्कि उत्साहपूर्वक अविभाजित भारत की आजादी के आंदोलन में हिस्सा भी लिया था।

परंतु अयूब इस बात से हैरान-परेशान हैं कि क्यों आज पाकिस्तान के नव-देवबंदी सूफियों के पवित्र स्थानों पर हमला कर रहे हैं ? अयूब को लगता है कि ऐसा करना देवबंद की मूल शिक्षा का उपहास करना है और यह वैसा ही है जैसा कि आतंकवादी कृत्यों को अंजाम देने के लिए इस्लामी शब्दावली का प्रयोग करना। अयूब की दृष्टि में

पाकिस्तान के नव-देवबंदी दारुल उलूम देवबंद की छवि पर एक धब्बा हैं। सऊदी धन प्राप्त करके इन नव-देवबंदि यों ने वहाबी विचारधारा को अपना लिया है, जो कि देवबंद के मूल दर्शन के विरुद्ध है। वहाबी विचारधारा कठोर, अलगाववादी और उग्र होने के साथ-साथ सूफी-विरोधी भी है। यह विचारधारा दूसरे मुसलमानों को भी काफिर मानती है, जो कि देवबंदी विचारधारा के ठीक विपरीत है। देवबंद के संस्थापक नानौती चिश्ती सूफी सिलसिले के सदस्य थे। नानौती और देवबंद के दूसरे प्रमुख उलमा मानते थे कि शरिया और सूफीमत विरोधाभासी नहीं हैं और अंतिम सत्य तक पहुंचने के लिए इन दोनों को साथ लेकर चलने की जरुरत है।

अब यदि हम अयूब की चिंताओं पर ध्यान दें, तो हमें दिखेगा कि अयूब की चिंताओं का कोई आधार नहीं है। दरअसल भारत के देवबंदियों और पाकिस्तान के देवबंदियों में कोई मौलिक भेद नहीं है। अगर भेद है, तो इतना भर कि यह भारत है और वह पाकिस्तान। भारत एक लोकतांत्रिक देश है और संविधान पर चलता है। इसका व्यापक समाज गैर-इस्लामी है, इसलिए चाहकर भी देवबंदी भारत में वैसा नहीं कर सकते, जैसा वे पाकिस्तान में करते हैं। देवबंद की यह मान्यता कि शरिया और सूफीमत विरोधाभासी नहीं हैं और अंतिम सत्य तक पहुंचने के लिए इन दोनों को साथ लेकर चलने की जरुरत है, अपने आप में विरोधाभासी मान्यता है। शेख अहमद के अनुसार सूफियों का काम सिर्फ शरिया के आगे नतमस्तक होना है और उन्हें इस बात की सख्त हिदायत है कि वे कुछ भी ऐसा न करें जो शरिया के विरुद्ध जाता हो।

शरिया एक ऐसी व्यवस्था है जो मुसलमानों को दूसरे समुदायों से, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर, जुड़ने से रोकती है। जैसा कि हमने देखा है, सूफीमत का अभ्युदय ही इस्लाम पर पड़े अन्य संस्कृतियों के प्रभाव से हुआ है। जबकि शरिया हर बाहरी प्रभाव से इस्लाम को दूर रखना चाहता है। इस तरह शरिया और सूफीमत एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। तभी तो शरिया को माननेवाले सूफियों और उनके पवित्र स्थलों पर हमला कर रहे हैं। शरिया क्या कर सकता है इसे हम देवबंद द्वारा हाल ही में दिए तीन फतवों के प्रकाश में देखेंगे।

पहला फतवा — अमर उजाला दैनिक में छपी एक खबर के अनुसार, दारुल उलूम के इफ्ता विभाग (फतवा जारी करने वाली संस्था) से जारी हुए फतवे ने नई बहस छेड़ दी है। फतवा विभाग ने एक सवाल के जवाब में कहा है कि मुस्लिम परिवार के लोग अपने बेटे-बेटियों की उस घर में शादी न करें, जिस घर के लोग बैंक में काम करते हैं। दरअसल, दारुल उलूम का कहना है कि बैंकिंग सेक्टर में नौकरी से जो परिवार पैसे कमा रहे हैं वो नाजायज है।

बैंकिंग प्रणाली पूरी तरह सूद (ब्याज) पर आधारित है, जिसे इस्लाम में हराम करार दिया गया है। असल में एक व्यक्ति द्वारा प्रश्न किया गया था कि क्या इस तरह के किसी परिवार में शादी की जा सकती है ? जिस पर इफ्ता विभाग के मुफ्तियों की खंडपीठ ने कहा कि इस तरह के किसी भी परिवार में शादी नहीं करनी चाहिए जो हराम की कमाई कर रहा हो। साथ ही फतवे में सलाह दी गई है कि किसी नेक घराने में रिश्ता तलाश करना चाहिए। शरीयत में ब्याज पर पैसा लेने और देने को हराम करार दिया गया है। दारुल इफ्ता ने बताया कि इस्लामी

कानून या शरीयत में ब्याज वसूली के लिए रकम देना और लेना नाजायज माना जाता है। इसके अलावा इस्लामी सिद्धांतों के मुताबिक नाजायज समझे जानेवाले कारोबार में निवेश को भी गलत माना जाता है। दुनिया के कुछ देशों में इस्लामी बैंक ब्याजमुक्त बैंकिंग के सिद्धांतों पर काम करते हैं। इस्लाम में शराब, नशा, स्कूल और शस्त्रों के कारोबार सहित अत्यधिक लाभ के लिए किया गया व्यापार प्रतिबंधित है।

दूसरा फतवा — एनडीटीवी के अनुसार, मुसलमानों में बिगड़ते लिंगानुपात के बीच दारुल उलूम देवबंद ने गर्भपात के खिलाफ एक और फतवा जारी किया। इस बारे में संस्थान का कहना है कि इस्लाम की नजर में गर्भपात कराना कत्ल करने के बराबर बड़ा गुनाह है। फतवे में कहा गया है कि इस्लाम की शुरुआत से पहले लोग अपनी बच्चियों को जिन्दा दफन कर दिया करते थे। कुरान में इसकी सख्त निन्दा की गई है, और इस्लाम में गर्भपात करवा ना अवैध और हराम है। एनडीटीवी का कहना है कि दुनियाभर में देवबन्द का नाम इस्लामी शिक्षा के क्षेत्र में बड़े अदब के साथ लिया जाता है। लेकिन पिछले कुछ समय से यहां से कुछ ऐसे फतवे जारी हुए जो आसानी से आम मुसलमानों के गले नहीं उतरते। अक्सर लोग इन्हें अनदेखा करते हैं, तो कभी-कभार इनके विरोध में आवाजें भी उठती दिखाई देती हैं।

तीसरा फतवा — हाल ही में दिया देवबंद का एक फतवा खबरों की सुर्खियां बना। यह फतवा था आलिया खान नाम की एक लड़की पर। दरअसल, आलिया खान नाम की मुस्लिम छात्रा ने स्टेज पर भगवान कृष्ण के रूप में गीता के श्लोक का उच्चारण किया। जिसके बाद इसे

दारुल उलूम देवबंद ने गैर-इस्लामी करार दिया, जिस पर अच्छा-खासा बवाल मचा। आलिया ने इस पर प्रतिक्रिया देते हुए कहा कि इस्लाम इतना कमजोर नहीं है कि मुझे गीता का पाठ और कोई ड्रेस पहनने से रोके।

निस्सन्देह देवबंद ने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सा लिया था और इसके अधिकतर सदस्यों ने पाकिस्तान की मांग का विरोध भी किया था। परंतु इसके बावजूद इस संस्थान को प्रगतिशील कहना प्रगतिशील शब्द के अर्थ को बदलना होगा। दरअसल शरिया का शब्दश: अनुसरण करने वाला संस्थान न तो आधुनिक हो सकता है और न ही प्रगतिशील। ऊपर जो तीन फतवे दिए गए हैं वे इसी वर्ष जारी किए फतवों में से हैं। परंतु ये तीनों फतवे गैर-कानूनी तो हैं ही निहायत दकियानूसी भी हैं। भारत के संविधान के अनुसार, हमारी बैंकिंग व्यवस्था वैध है, इसलिए उसमें काम करने वालों की कमाई को हराम कहना तो संविधान का उल्लंघन है। इसी तरह, शराब, नशा, स्कूल, शस्त्र का व्यापार आदि के द्वारा कमाई करना भी विधि-सम्मत है। इसलिए इन सबको हराम करार देना भी हमारी समझ से भारतीय संविधान का उल्लंघन है, अपमान है।

इससे एक और कारण की ओर हमारा ध्यान जाता है कि मुसलमान पूरी दुनिया में इतने पिछड़े क्यों हैं ? यदि हम किसी भी अर्थव्यवस्था से बहुत सारी आर्थिक गतिविधियों को निकाल दें, तो अर्थव्यवस्था सिकुड़ जाएगी और अंततः अधिकतर लोग गरीब हो जाएंगे। अधिकतर मुस्लिम देशों में फिल्म उद्योग नहीं है, गीत और संगीत का व्यापक कारोबार नहीं है, खेल-कूद की विकसित संस्कृति नहीं है,

मूर्तिकला-चित्रकला का निषेध है इत्यादि। जब मुस्लिम अर्थव्यवस्था के इतने क्षेत्रों में कारोबार या तो बंद हो या न्यूनतम हो, तो फिर उसी अनुपात में रोजगार में कमी आएगी।

जहां तक इस्लामी बैंकिंग व्यवस्था का प्रश्न है तो स्पष्ट है कि आज तक पूरी दुनिया में एक भी इस्लामी बैंक यह साबित नहीं कर पाया है कि यह बैंक आम प्रचलित बैंक से किसी भी अर्थ में बेहतर है। अगर ऐसा होता तो सारी दुनिया खुशी से इस्लामी बैंक को ही अपनाती। वैसे भी आज की बैंकिंग प्रणाली भी तो बाहर से ही आई हुई है, फिर इस्लामी बैंक क्यों नहीं ? पर सच तो यह है कि इस्लामी दुनिया ने शायद ही ऐसी कोई आधुनिक व्यवस्था विकसित की हो, जिसे बाकी दुनिया हाथो-हाथ लेने को तत्पर होती ! वैसे भी इस्लामी बैंक के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है सिवाय इसके कि कुरान और हदीस सूद लेने को हराम मानते हैं। बैंक द्वारा कमाया गया ब्याज असल में वह तेल है जिसकी बदौलत अर्थव्यवस्था के सारे पहिए नाचते हैं। इसी तरह की बात निवेश को लेकर भी कही जा सकती है। क्रूर सच्चाई तो यह है कि ऐसे फतवे जारी करनेवाले उलमा भी अपना वेतन बैंक से लेते होंगे और अपनी जमा रकम पर ब्याज भी कमाते होंगे। इस तरह ऐसा फतवा जारी करना सिवाय ढोंग के और कुछ भी नहीं है। इतना ही नहीं, मुस्लिम समाज का सारा कारोबार तुरंत ठप हो जाएगा यदि वे बैंक पर निर्भर होना बंद कर देंगे। इसके अलावा सरकार भी अपना धन बैंक में रखती है और उस पर ब्याज भी कमाती है। इस प्रकार देखा जाए तो देश के जितने भी सार्वजनिक काम होते हैं उनमें ब्याज का थोड़ा-बहुत अंश अवश्य होता है। तो क्या मुसलमान सारी सरकारी सुविधाओं को लेना बंद कर दें ?

कुछ-कुछ ऐसी ही बातें गर्भपात को लेकर भी कही जा सकती हैं। लिंग-भेद करके गर्भपात करना एक कानूनी अपराध है। इसलिए यदि हम इसका विरोध करते हैं, तो हम वैसा करने को बाध्य हैं। परंतु यह कहना कि कुरान के अनुसार गर्भपात करना या कराना ही हराम है, तो फिर यह बिल्कुल स्वीकार करने योग्य बात नहीं है, क्योंकि गर्भपात करना या कराना विधि-सम्मत है। असल में गर्भपात नारी स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ विषय है। हर नारी यह निर्णय लेने को स्वतंत्र है कि वह उस बच्चे की मां बनना चाहती है या नहीं, क्योंकि मां बनना उसके जीवन का एक बहुत बड़ा दायित्व है। इसलिए यदि कोई नारी अपने अनचाहे गर्भ से मुक्त होना चाहती है, तो यह उसका निर्णय है और कानून उसे ऐसा करने से नहीं रोकता है। इस प्रकार इस विषय में कुरान के हवाले से दखल न केवल कानून के विरुद्ध जाता है, बल्कि नारी स्वतंत्रता पर एक बहुत बड़ी चोट भी है।

इसी प्रकार एक मुस्लिम लड़की द्वारा कृष्ण की भूमिका में गीता का पाठ करना हराम करार दिया जाता है, तो सोचना पड़ेगा कि इस्लाम इतना कमजोर क्यों है जिसका चौदह सौ साल पुराना दुर्ग एक लड़की द्वारा कुछ करने मात्र से हिल जाता है ? देश की धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के अनुसार उस लड़की द्वारा ऐसा करना कहीं से भी विधि-विरुद्ध नहीं है।

देवबंद के वेबसाइट पर जितने विभागों के नाम दिए गए हैं उनमें आश्चर्यजनक रूप से ईसाइयत और अंग्रेजी साहित्य के अलग-अलग दो विभाग हैं। परंतु जिस देश में यह संस्था है उसके बहुसंख्यक धर्म -

हिंदू या यहां के अन्य धर्मों, जैसे जैन, बौद्ध, सिख आदि के नाम पर एक भी विभा ग नहीं है। इसी तरह हिंदी भाषा का गढ़ उत्तर प्रदेश में अवस्थित इस संस्था में हिंदी विभाग का न होना यही बताता है कि यह अपने चारों ओर के व्यापक समाज से किस हद तक कटा हुआ है। वेबसाइट पर एक भी लड़की की तस्वीर का न होना भी यही दर्शाता है कि यह संस्था अत्यंत रूढ़िवादी है और अपनी आधी आबादी को इस लायक नहीं समझता कि उसे भी ऐसी शिक्षा मिले। गीत-संगीत जैसे विषयों को भी कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसकी संस्कृति पूरी तरह अरबी और फारसी है। इसके नाम - दारुल उलूम का अर्थ गैर-मुस्लिम तो नहीं ही जानते होंगे, अच्छी-खासी संख्या में आज के मुस्लिम भी नहीं जानते होंगे। यह अरबी इस्लाम का अनुयायी है न कि उस इस्लाम का जिसे भारतीय कहा जाए। आखिर इसमें फतवा विभाग क्यों है ? जो देश संविधान से चलता है उसमें फतवे के प्रयोग पर मुस्लिम बौद्धिकों में विचार-विमर्श होना चाहिए। अंततः इससे किसका भला होता है ? इसलिए देवबंद से किसी सकारात्मक बदलाव की आशा करना व्यर्थ है। कुल-मिलाकर यह संस्था मध्यकाल में जी रही है और पूरी तरह शेख अहमद के विचारों पर पल रही है। यह संस्था आज जो कुछ भी कर रही है उससे यह भारत के व्यापक समाज से जुड़ने के बजाय उससे अलग हो रही है।

देवबंद की स्थापना के थोड़े ही समय बाद हमें सर सैय्यद अहमद खां के विषय में जानकारी मिलती है, जिनके जीवन में अलगा ववादी विचार बहुत आरंभ में ही आ गए थे। उदाहरण के लिए, 1876 में ही उन्होंने कहा था कि “इसमें [भारत में] रहने वालों के धार्मिक मतभेद इतने शक्तिशाली थे कि उनके सामने किसी अन्य शक्ति को अधिक

महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता था.....जिस प्रकार रात-दिन तथा काली-सफेद का आपस में मिल जाना कठिन था उससे कुछ अधिक कठिन था कि भारत के विभिन्न धर्म आपस में संगठित हो जाएं।"

और भी आश्चर्य की बात तो यह है कि पाकिस्तान के दार्शनिक और सैद्धांतिक जन्मदाता - मुहम्मद इकबाल ने शेख अहमद को बहुत महत्व दिया है। शरिया को अक्षरश: अपनाने और हिंदू प्रभाव से इस्लाम को मुक्त करने जैसे दकियानू सी विचारों के कारण शेख अहमद की इकबाल ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की और कहा कि वह भारत में मुस्लिम आस्था का संरक्षक था, जिसे ईश्वर ने सही समय पर सतर्क कर दिया था। इकबाल को लेकर हमें ओम प्रकाश बताते हैं कि एक अमरीकी विद्वान का मत है कि इकबाल संभवतः पहले मुस्लिम नेता थे जिन्होंने पृथक मुस्लिम राष्ट्र का विचार सामने रखा।

शेख अहमद के बारे में इतनी जानकारी के बाद हमें इस बात पर घोर आश्चर्य होता है जब हमें हसबंस मुखिया बताते हैं कि "अकबर के शासनकाल में धर्मशास्त्री शेख अहमद सरहिंदी ने शिकायत की कि हिंदू मस्जिदें तोड़ रहे हैं और उन स्थानों पर अपने पूजा स्थल का निर्माण कर रहे हैं।" क्या ऐसा हो सकता है कि मुस्लिम शासन में हिंदू मस्जिद तोड़ें ! अगर ऐसा होता तो सबसे पहले हिंदू अपने धार्मिक हृदय स्थलों - काशी, मथुरा और अयोध्या की मस्जिदों को तोड़कर मंदिर बनाते, जो वे आज तक नहीं कर पाए हैं। फिर प्रश्न यह भी है कि शेख अहमद की शिकायत को कितना महत्व दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति घोषित रूप से कट्टर था और हिंदुओं से मुसलमानों को दूर

रखना चाहता था ताकि इस्लाम पर हिंदू का कोई प्रभाव न पड़े और हिंदू उत्पीड़न को पुण्य का काम मानता था उससे और क्या अपेक्षा की जा सकती थी ? इतिहासकार होने के नाते अच्छा होता कि मुखिया शेख अहमद की शिकायत की पुष्टि के लिए साक्ष्य भी प्रस्तुत करते। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि न केवल मुस्लिम बौद्धिकों के एक प्रमुख हिस्से ने शेख अहमद को महत्व दिया है, बल्कि गैर-मुस्लिम बौद्धिकों में भी बहुत से ऐसे हैं जो अनावश्यक रूप से शेख अहमद को महत्व देते हैं। मुखिया ने शेख अहमद को धर्मशास्त्री कहा है। परंतु यह नहीं कहा कि कैसा धर्मशास्त्री ?

सच तो यह है कि शेख अहमद की अलगाववाद की सोच इतनी कट्टर है कि वह सोच आज के आइएसआइएस, तालिबान, बोको हराम, मुस्लिम ब्रदरहुड आदि में देखी जा सकती है। आखिर ये भी तो इस्लाम को पुराने युग में ही ले जाना चाहते हैं और गैर-मुस्लिमों से अलग रहना चाहते हैं।

मुखिया जैसे इतिहासकारों ने ही एनसीइआरटी की इतिहास की पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें सत्य को छिपाने की असफल कोशिश की गई है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है शेख अहमद के विषय में मध्यकालीन भारत के खंड में वर्णन तो किया गया है, परंतु इस वर्णन का अंत इस प्रकार होता है :

> “लेकिन शेख अहमद के विचारों का कोई प्रभाव नहीं हुआ। जहांगीर ने उस पर पैगंबर से भी ऊंचे दर्जे का दावा करने के

> आरोप लगाकर उसे कैद में डाल दिया और जब उसने अपने रवैए में सुधार किया तभी उसे रिहा किया गया। औरंगजेब ने भी उसके पुत्र और उसके उत्तराधिकारी की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया।"

इस उद्धरण की तुलना हम दिनकर द्वारा इसी विषय के वर्णन से करते हैं, जो ऊपर दिया गया है, फिर भी सुविधा के लिए उसका दोबारा उल्लेख किया जा रहा है :

> "शेख अहमद के मरने के बाद उसके मतों के प्रचार का बीड़ा अहमद के पुत्र, मुहम्मद मासूम ने उठाया। और जब मासूम का देहान्त हुआ, तब उसके बेटे शेख सैफुद्दीन ने वही प्रचार और भी भीषणता से आरंभ कर दिया। हिंदुस्तान की बद-किस्मती से, इसी शेख सैफुद्दीन को औरंगजेब ने अपना गुरु बनाया और, इस प्रकार, शेख अहमद की रूह को वह बलवान मनुष्य प्राप्त हो गया जो अहमद के सपनों को कार्य का रूप दे सकता था।"

कहां तो औरंगजेब द्वारा शेख अहमद के पुत्र और उसके उत्तराधिकारी की ओर कोई खास ध्यान नहीं देना और कहां तो शेख अहमद के पोते को औरंगजेब द्वारा अपना गुरु बनाना ! असल में एनसीइआरटी की इतिहास की पुस्तकें लिखनेवाले सत्य को छिपा रहे हैं और नहीं जान रहे हैं कि इस प्रकार वे कितनी बड़ी गलती कर रहे हैं। जो सत्यान्वेषी होगा वह सत्य तक किसी भी तरह पहुंच ही जाएगा। लेकिन जब एक

बार वह सत्य तक पहुंच जाएगा, तो इस तरह की पुस्तकों पर से उसका भरोसा उठ जाएगा। यह स्थिति किसी भी समाज के लिए अत्यंत खतरनाक होगी। ऐसे इतिहासकार पाठकों के विश्वास से खेलने का बहुत ही बड़ा जोखिम उठा रहे हैं। यदि इन इतिहासकारों का उद्देश्य हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ाना है, तो यह तभी संभव होगा जब इसका आधार सत्य पर टिका होगा। असत्य को कोई भी जागृत समाज बर्दाश्त नहीं करेगा। इतिहास में सिर्फ सत्य ही लिखा जाना चाहिए, चाहे वह कितना ही कुरूप क्यों न हो। आखिर वह भी तो हमारे अतीत का हिस्सा है। जिस दिन देश के बौद्धिक सत्य पर चलने लगेंगे उसी दिन से असली हिंदू-मुस्लिम एकता आरंभ होगी।

लेकिन यह घोर आश्चर्य का विषय है कि जितना भी शेख अहमद के विषय में एनसीइआरटी की पुस्तक में लिखा था, उसे अब पूरी तरह हटा दिया गया है और उसकी जगह 2007 के नए संस्करण में 'सूफी परंपरा के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए विभिन्न स्रोत' शीर्षक वाले पृष्ठ पर सिर्फ इतना ही लिखा है :

> "विद्वान बहुधा सत्रहवीं शताब्दी के नक्शबंदी सिलसिले के शेख अहमद सरहिंदी (मृत्यु 1624) के लिखे मक्तुबात-ए-इमाम रब्बानी पर चर्चा करते हैं। इस शेख की विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन वे बादशाह अकबर की उदारवादी और असांप्रदायिक विचारधारा से करते हैं।"

इस प्रकार अब छात्र शेख अहमद के विषय में उतना भी नहीं जान पाएंगे, जितना वे पहले जान पाते थे। यह सत्य छिपाने की ओर अगला कदम है।

निष्कर्ष :

इस लेख का सर्वप्रधान उद्देश्य यह दर्शाना है कि भारत में अलगाववादी विचारधारा का जन्मदाता शेख अहमद सरहिंदी था। इस संदर्भ में हमने यह भी दिखाया है कि हिंदू-मुस्लिम वैमनस्यता सिर्फ अंग्रेजों की देन नहीं थी। दरअसल इसका सुदीर्घ इतिहास है जो अंग्रेज-पूर्व युग यानी मध्यकाल तक जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जिस तरह दो संस्कृतियों के बीच मेलजोल होना चाहिए था वह दुर्भाग्य से नहीं हुआ। विजेता होने के कारण मुस्लिम समाज का यह प्रथम दायित्व बनता था कि वह आगे बढ़कर हिंदुओं का विश्वास जीतने का प्रयास करता। इसके बावजूद दोनों समुदाय परिस्थितिवश कुछ सीमा तक एक-दूसरे के समीप आए। परंतु मुस्लिम बौद्धिक वर्ग के एक प्रमुख हिस्से को अपनी अलगाववादी विचारधारा से प्रभावित करने में शेख अहमद सफल रहा और इस तरह उसने न केवल अलगाववाद को सैद्धांतिक, दार्शनिक और धार्मिक आधार ही प्रदान किया, बल्कि एक सांस्थानिक रूप भी दिया। उसने बड़े ही सुनियोजित तरीके से अपने विचारों को फैलाया।

दूसरा, हमने यह भी दिखाने की कोशिश की कि मुस्लिम बौद्धिक समाज में सोलहवीं शताब्दी से लेकर आज तक शेख अहमद का

कितना महत्व है। देवबंद के उदाहरण से हमने यह भी देखा कि कैसे मुस्लिम समाज को अभी भी दकियानूसी , पुरातनपंथी और पृथकतावादी बनाने का प्रयास जारी है।

अंततः हमने यह भी दिखाया है कि हमारे छात्रों को इतिहास में जो पढ़ाया जाना चाहिए उसे पहले तो गलत व्याख्या के साथ पढ़ाया जाता था और बाद में तो उसे पाठ्य-पुस्तक से ही हटा दिया गया, जो न केवल अनु चित है, बल्कि भविष्य के लिए खतरनाक भी। हमें इतिहास से भागना नहीं बल्कि उससे भिड़ना चाहिए। आंख मूंद लेने से सत्य समाप्त नहीं हो जाता। हिंदू-मुस्लिम एकता का लक्ष्य केवल और केवल सत्य के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

लेखक प्रसार भारती में अपर महानिदेशक हैं। लेख में व्यक्त विचार व्यक्तिगत हैं। 15 अक्टूबर 2018